छान्दोग्य उपनिषद् की आख्यायिकाओं की दार्शनिक समीक्षा

डा० एस० विजय कुमार

दार्शनिक विचारों का अकूत कोष है—छान्दोग्योपनिषद्। उपनिषदों की मीमांसा प्रस्तुत करने के प्रयोजन से निर्मित वेदान्त के न्यायप्रस्थान ब्रह्मसूत्र में सर्वाधिक उपयोग छान्दोग्य उपनिषद् का ही हुआ है। ब्रह्म सूत्र के प्रथम अध्याय में उपनिषदों के जिन **28** प्रधान वाक्यों का समन्वय प्रस्तुत किया गया है उनमें **12** छान्दोग्य से, **4** बृहदारण्यक से, **4** कठ से, **2** तैत्तिरीय से, **2** कौषीतकि से, **3** मुण्डक से एवं **1** प्रश्नोपनिषद्से लिया गया है। वेदान्त सूत्र के भाष्य एवं टीकाओं में तथा वेदान्त के अन्य स्वतंत्र प्रकरण ग्रन्थों में भी उपनिषदों का तात्पर्य षड्विध लिङ्गों[1] द्वारा करने के अवसर प्राय: छान्दोग्य के छठे अध्याय का उदाहरण दिया जाता है, और यह तो सर्वसम्मत ही है कि ब्रह्म विद्या उपनिषदों का प्रधान विषय है।[2] इसी उपनिषद् में वह वाक्य आया है जिसकी यादवप्रकाशकृत व्याख्या से संतुष्ट न हो कर रामानुज ने स्वतंत्र दार्शनिक मत का प्रतिपादन किया। इसी उपनिषद् में आये महावाक्य 'तत्वमसि' की व्याख्या में आचार्यों का मतभेद विभिन्न दार्शनिक मतों—अद्वैत, विशिष्टाद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि का प्रयोजक बना। इस उपनिषद् में ज्ञान और उपासना दोनों ही विषयों का सुन्दर विवेचन है तथा उन्हें सुगमता से समझाने के लिए यत्र-तत्र कई आख्यायिकायें भी दी गयीं हैं।

अध्यापन की अनेक विधाओं का उपयोग उपनिषदों मे दीखता है। जैसे प्रश्न, अनुप्रश्न, व्याख्या, अनुव्याख्या, दृष्टान्त, शब्दव्युत्पत्ति, ऊर्ध्वप्रवचन एवं आख्यायिका। इस लेख में आख्यायिकाओं पर कुछ विवेचन इष्ट है।

आख्यायिका-उपनिषदों का विषय है ब्रह्मविद्या। यह विषय गम्भीर रहस्ययुक्त, दुरूह एवं कठिनता से समझ में आने वाला है। ब्रह्म सर्व विशेष रहित है, अत: विशेषणों के माध्यम से वस्तु को समझने वाले मनुष्य के लिये ब्रह्म का दुर्बोधत्व स्वाभाविक ही है। किन्तु उपनिषदों ने अध्यात्मशिक्षण की प्रणाली में आख्यायिकाओं का प्रयोग कर इस दुष्कर, दुर्बोध तत्व को सुबोध, सुगम तथा सुलभ करा दिया है। आख्यायिका पद्धति का उपयोग वेद की प्रत्येक संहिता, ब्राह्मण तथा उपनिषद्में न्यूनाधिक मात्रा में हुआ है।

छान्दोग्योपनिषद्में ब्रह्मविद्या के अधिकारी का बोध कराने के लिए, ब्रह्मविद्या की विधि प्रदर्शित करने के लिए, धर्म अधर्म का विवेक उत्पन्न करने के लिए, मुमुक्षु में संसार के प्रति वैराग्य उत्पन्न करने के लिए तथा ब्रह्म का सरलता से बोध कराने के लिए अनेक आख्यायिकाओं का उपयोग किया गया है। प्राणोपासना की उत्कृष्टता सूचित करने के लिए देवासुर संग्राम की आख्यायिका, उद्गीथ संज्ञक ओंकारोपासना से अभय फल प्राप्ति को प्रदर्शित करने के लिए देवताओं में मृत्यु से भयभीत होने की आख्यायिका, उद्गीथोपासना की उत्कृष्टता प्रदर्शित करने के लिए शिलक, दालभ्य और प्रवाहण का संवाद, उषस्ति का आख्यान, श्रद्धा, अन्नदान तथा अनौद्धत्य (विनय) में विद्याप्राप्तिसाधनत्व का बोध कराने के लिए राजा जानश्रुति और रैक्व की आख्यायिका, श्रद्धा और तप का ब्रह्मोपासना का अंगत्व प्रदर्शित करने के लिए सत्यकाम जाबाल तथा उपकोसल की आख्यायिका, मुमुक्षु पुरुषों में वैराग्य उत्पत्यर्थ ब्रह्मा से स्तम्बपर्यन्त संसार की गतियों का वर्णन करने के लिए पाञ्चालों की सभा में श्वेतकेतु की आख्यायिका, सरलता से समझाने के लिए तथा विद्याप्रदान की उचित विधि प्रदर्शित करने के लिए राजा अश्वपति एवं

औपमन्यव इत्यादि का आख्यान, ब्रह्मविद्या का सारतमतत्व प्रदर्शित करने के लिए आरूणि एवं उसके पुत्र श्वेतकेतु का आख्यान, सर्वविद्यासम्पन्न होने पर भी अनात्मज्ञ की अकृतार्थता का बोध कराने के लिए तथा आत्मज्ञान से बढ़कर कोई कल्याण का साधन नहीं है यह प्रदर्शित करने के लिए सनत्कुमार-नारद आख्यायिका तथा विद्या के ग्रहण और दान करने की विधि प्रदर्शित करने के लिए इन्द्र, विरोचन एवं प्रजापति की आख्यायिका है।

यहां प्रश्न उठ सकता है कि इन आख्यायिकाओं में उल्लिखित उपकोसल इत्यादि क्या ऐतिहासिक पुरुष थे? स्वयं शंकराचार्य ने भी इन आख्यायिकाओं पर भाष्य करते समय मूल में आये 'ह' निपात को इतिहास का द्योतक माना है।[3] किन्तु यदि इन व्यक्तिओं को इतिहास पुरुष माना जाय और इन आख्यायिकाओं में वर्णित घटनाओं को वास्तविक घटना माना जाय तो इनकी संगति वेद के अनादित्व के साथ नहीं बैठती। भले ही पश्चिम के विद्वानों की दृष्टि में वेद ऋषियों के द्वारा प्रणीत ग्रन्थ है किन्तु भारत के वेदमर्मज्ञ प्राचीन शास्त्रों तथा शास्त्रज्ञों ने एक स्वर से ऋषियों को वैदिक मन्त्रों का द्रष्टा ही माना है कर्ता नहीं।[4] शब्द की अनित्यता का पक्षपाती नैयायिक हो अथवा शब्द की नित्यता को स्वीकार करने वाला मीमांसक, दोनों ही वेद के नित्यत्व में विश्वास करते हैं। अधिकांश दार्शनिक वेद को अपौरुषेय ही मानते हैं। पौरुषेय मतानुयायी नैयायिक भी इसे सर्वज्ञ परमेश्वर की रचना मानते हैं। अत: यदि वेद नित्य है तो उनमें ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन कैसे सम्भव है? इस समस्या का समाधान कई प्रकार से किया गया है। शंकराचार्य ने इतिहास और आख्यायिकाओं को एक ही स्तर पर रखा है और दोनों का प्रयोजन विषय का सरलता से प्रतिपादन एवं बोध माना है।[5] उनके अनुसार ये आख्यायिकायें कल्पित हैं।[6] स्वामी दयानन्द सरस्वती के अनुसार वेद अनादि हैं और उनमें लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है। वेदों के सब शब्द यौगिक तथा योगरूढ़ हैं, रूढ़ नहीं। इन्द्र, अग्नि, वरुण आदि जितने देवता-वाचक शब्द हैं वे यौगिक होने से एक ही परमात्मा के वाचक हैं। यह मत आध्यात्मिक व्याख्या का पोषक है। श्री अरविन्द के अनुसार वैदिक मंत्रों के शब्द किसी आध्यात्मिक तत्व के प्रतीक हैं।[7] 'गौ' प्रकाश का, 'अश्व' शक्ति का, 'अग्नि' अन्त:स्फुरित होने वाले प्राण का प्रतीक है। वेद में जिन सामान्य शब्दों का प्रयोग हुआ है उनका अर्थ नितान्त गूढ़, असामान्य तथा अन्त:स्तर की साधना पर आधारित है।

एक अन्य मत के अनुसार इन घटनाओं को ऐतिहासिक मानने पर वेद की नित्यता का भंग नहीं होता। वेद स्वत: सर्वज्ञानात्मक है अथवा सर्वज्ञ ईश्वर की रचना। सर्वज्ञानात्मक वेद या सर्वज्ञ ईश्वर के लिए भूत-भविष्य भी प्रत्यक्ष ही दिख रहे हैं। अत: घटना के पश्चात् उस घटना का उल्लेख वेद में नहीं है वरन् आगामी होने वाली घटनाओं का उल्लेख पहले से ही वेद में है, अर्थात् वेदों के उल्लेख के अनुसार ही आगामी युगों में व्यक्तियों का आविर्भाव होता है, अतीत युग में उत्पन्न व्यक्तियों का उल्लेख वेद में नहीं है।

उपरोक्त समाधान मात्र आध्यात्मिक या आधिभौतिक दृष्टि से दिये गये हैं। किन्तु यास्क ने प्रत्येक वैदिक मंत्र के तीन प्रकार के अर्थ बताये— आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक। तीनों अर्थ जगत् से सम्बन्ध रखते हैं और तीनों यथार्थ हैं। प्रत्येक मंत्र भौतिक अर्थ को बताता है, किसी देवता विशेष को भी सूचित करता है और साथ ही परमेश्वर के अर्थ का भी द्योतक है। 'अग्नि' शब्द भौतिक अग्नि का बोधक है जिसकी कृपा से इस जगत् के समस्त व्यवहार सिद्ध होते हैं। यह शब्द उस देवता का भी सूचक है जो इस भौतिक अग्नि का अधिष्ठाता है, तथा यह शब्द इस जगत् के नियामक ईश्वर को भी द्योतित करता है।

प्रश्न है कि क्या अग्नि के ये तीनों रूप समभावेन सत्य हैं? उत्तर है, हाँ। आधिभौतिक स्तर वाले व्यक्ति के लिए आधिभौतिक अर्थ, आधिदैविक स्तर वाले के लिए आधिदैविक अर्थ तथा आध्यात्मिक स्तर वाले व्यक्ति के लिए आध्यात्मिक अर्थ लक्षित है। क्रमश: ऊपर के स्तर का अधिकारी नीचे के स्तर का रहस्य भी समझता है, अर्थात् आधिदैविक अर्थ लगाने वाले के लिए आधिभौतिक अर्थ प्रकट है और आध्यात्मिक अधिकारी आधिभौतिक एवं आधिदैविक दोनों के रहस्य एवं प्रयोजन को समझता है।

वेद का विषय गम्भीर है, दुरूह है। यदि उन विषयों का विवेचन मात्र आध्यात्मिक स्तर पर ही हुआ तो निश्चित ही यह परम्परा विच्छिन्न हो गयी होती। या तो उस स्तर के सभी व्यक्ति मुक्त हो गये होते अथवा उस स्तर पर न पहुंचने की योग्यता होने पर परम्परा समाप्त हो गई होती। किन्तु परम्परा विच्छिन्न नहीं हुई क्योंकि इन मंत्रों की आधिभौतिक एवं आधिदैविक व्याख्या भी सतत होती रही। जिन्होंने इन्हें सुलभ, सरल रूप से जीवित रखा। तात्पर्य यह है कि परम्परा जनमानस में कथा-कहानियों के माध्यम से जीवित रहती है, धार्मिक व्यक्ति उनमें देवत्व का आरोप करता है और दार्शनिक उन कथा-कहानियों, आख्यायिकाओं का विश्लेषण कर उनके पीछे छिपे रहस्य का उद्घाटन करता है। हमारे इतिहास और पुराण परम्परा को रोचक रूप से जीवित रखने के ही प्रयास हैं किन्तु कोई व्यक्ति इन रोचक आख्यानों तक ही सीमित न रह जाये और रूपकों के पीछे छिपे हुये सिद्धान्तों तक पहुंच सके इसके लिये भी पर्याप्त सामग्री उन्हीं आख्यानों में विद्यमान है।

छान्दोग्योपनिषद् के षष्ठ अध्याय में आरूणि और श्वेतकेतु की प्रसिद्ध आख्यायिका है। शंकराचार्य के अनुसार पिता और पुत्र की इस आख्यायिका का प्रयोजन ब्रह्मविद्या का सारतमतत्व प्रदर्शित करने के लिए है। इस आख्यायिका में आरूणि ने गुरुगृह में बारह वर्षों तक अध्ययन करने के पश्चात् लौटे अपने ज्ञान के अभिमान से ग्रस्त, उद्धत तथा विनयरहित पुत्र श्वेतकेतु को सद्धर्म में प्रवृत्त कराने की इच्छा से पूछा कि ऐसी कौन सी वस्तु है जिस एक के सुने बिना सुनी सब वस्तुएं सुनी जाती है, जिस एक के विचारे बिना विचार की हुई सब वस्तुओं का विचार हो जाता है और जिस एक के ज्ञान से सभी अज्ञात वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है!

आरूणि का प्रश्न सुनते ही श्वेतकेतु का गर्व गल गया। उसने नम्र होकर उस वस्तु के उपदेश की प्रार्थना की। इस अवसर पर आरूणि ने अनेक दृष्टान्तों की सहायता से सद्विद्या का उपदेश किया। इस एक आख्यायिका के माध्यम से एकविज्ञान के द्वारा सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा कर आरूणि ने सत्कार्यवाद, सृष्टि-प्रक्रिया, त्रिवृत्करण, अज्ञान, ब्रह्मस्वरूप, मोक्षोपाय आदि विविध विषयों के रहस्य समझा दिये। इस उपदेश के क्रम में उन्होंने 'तत्त्वमसि' का नौ बार उपदेश किया है। जिसे दार्शनिक जगत् में 'उपदेश महावाक्य' की संज्ञा प्राप्त हुई। प्रश्न उठता है कि आरूणि ने 'तत्त्वमसि' वाक्य का नौ बार कथन क्यों किया? क्या यह पुनरुक्ति दोष नहीं? या फिर 'तत्त्वमसि' के पुन:-पुन: प्रतिपादन के पीछे अन्य कोई रहस्य है।

आरूणि ने एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की थी। इसकी सिद्धि के लिए उन्होंने उदाहरण दिया कि जैसे कारणरूप मिट्टी के पिण्ड का ज्ञान होने पर मिट्टी के कार्यरूप घट, शराब (पात्र) आदि वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार जगत् के एकमात्र मूल कारण 'सत्' के ज्ञान से कार्यरूप विराट् जगत् का ज्ञान हो जाता है। यहां सन्देह उठता है कि कार्य में कारण की अपेक्षा कुछ तो नवीनता, भिन्नता है, उस नवीनता का ज्ञान कारण के ज्ञान से कैसे

होगा? आरूणि समाधान करते हैं कि कार्य रूप जगत् वास्तविक नहीं है, केवल वाणी का विकार मात्र है। कार्य कारण का संस्थान मात्र है। सच पूछिये तो है ही नहीं, किन्तु दीखता मात्र है।

जगत् के उस एकमेवाद्वितीय मूल कारण के संकल्प से तेज, जल एवं पृथ्वी की उत्पत्ति हुई और इन्हीं तीनों तत्वों के त्रिवृत्करण से जगत की सभी वस्तुएं बनी हैं। मानव शरीर (मांस, मज्जा, रक्त एवं अस्थि युक्त) तथा मन, प्राण एवं वाक् भी इन तीन तत्त्वों से ही बने हैं। इस प्रकार बाह्य जगत् एवं आन्तरिक जगत् का मूल कारण एक ही है। उस एक के ज्ञान से सर्व का ज्ञान संगत ही है।

शंका उठती है कि यदि अन्न का सूक्ष्म तत्त्व मन है और इस मन में परदेवता (सत्)जीवात्मरूप से अनुप्रविष्ट हुआ है तथा मन के साथ तादात्म्यापन्न होकर ही जीव स्थूल-सूक्ष्म विषयभोग करता है तो मन का ही क्यों न सत् मान लिया जाय। यदि दो वस्तुएं सदासर्वदा साथ ही दीखती हैं तो वे एक ही हैं, भिन्न नहीं। इसी शंका के निवारणार्थ आरूणि ने सुषुप्ति के स्वरूप का विश्लेषण किया।

जाग्रत व स्वप्न अवस्थाओं में घूमता हुआ, स्थूल सूक्ष्म विषयभोग करता हुआ जीव थक कर एक ऐसी अवस्था में पहुँचता है जहां वह कुछ न चाहता है, न कुछ भी जानता है, स्वप्न भी नहीं देखता, केवल आनन्द का भोग करता है। उसके प्रज्ञान घनीभूत रहते हैं। यह गाढ़ निद्रा की अवस्था है, जिसे सुषुप्ति नाम दिया गया है। आरूणि कहते हैं यह अवस्था जीव के अपने वास्तविक स्वरूप को प्राप्त होने से होती है। सुषुप्ति में जीव-सत्-चित् आनन्दात्मक ब्रह्म में स्थित होता है। इस अवस्था में मन एवं इन्द्रिय निश्चेष्ट रहते हैं। अत: सुषुप्ति के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि मन सत् नहीं है। सुषुप्ति में जो सूक्ष्म अद्वितीय तत्व विद्यमान है वह पुरुष का वास्तविक स्वरूप है। वही तू है तत्त्वमसि।

यह शंका उठती है कि यदि वास्तव में सुषुप्तिस्थान ब्रह्म है, और ब्रह्म से अभिन्न होकर रहने की दशा सुषुप्ति है तो एक बार सुषुप्त हुआ जीव पुन: जागता कैसे है? क्योंकि तत्वत: तो जीव व ब्रह्म दोनों एक ही हैं, उपाधिवश इनमें भेद व्यवहार है, सुषुप्ति में होने वाले तथाकथित अभेद (सत्सम्पत्ति) में यदि यह उपाधि नष्ट हो जाती है तो जो जीव सोया था उसी का पुन: जागना सम्भव नहीं।

इस शंका के समाधानार्थ आरूणि मधुमक्खियों द्वारा मधु निष्पत्ति का उदाहरण देते हैं। मधुमक्खियां नाना दिशाओं से वृक्षों का रस लाकर एकता (मधुत्व) को प्राप्त करा देती हैं। वे रस जिस प्रकार मधु में इस प्रकार का विवेक प्राप्त नहीं कर सकते कि 'मैं' इस वृक्ष का रस हूं और मैं उस वृक्ष का रस' उसी प्रकार यह सम्पूर्ण प्रजा सत् को प्राप्त होकर यह नहीं जानती कि हम सत् को प्राप्त हो गये 'इमा: सर्वा: प्रजा: सति सम्पद्य न विदु:सति सम्पद्यामहे।' अत: सुषुप्ति से पूर्व वे इस लोक में व्याघ्र, सिंह, कीट, पतंग आदि जो भी होते हैं, वे ही पुन: हो जाते हैं। यहां 'नहीं जानते' (न विदु:) में अविद्या रूपी उपाधि के बने रहने का संकेत है। सुषुप्ति में जीव की उपाधि नष्ट नहीं होती, उपशान्त या अभिभूत रहती है।[8] इतना ही स्वरूपापत्ति का अभिप्राय है। अत: सुषुप्ति अवस्था से पुनरुत्थान होता है। 'सत्' रूप ब्रह्म निरुपाधिक है। इस अवस्था का साक्षात्कार होने पर पुन: संसार में आविर्भाव नहीं होता। 'तू वही है' 'तत्त्वमसि'।

सुषुप्ति अवस्था में अविद्यारूपी उपाधि रहती है। अत: उस अवस्था में पुरुष को सत् सम्पत्ति का बोध नहीं होता। किन्तु सुषुप्तावस्था से जगने पर उसे क्यों ज्ञान नहीं होता कि मैं सत् के पास से आया हूं? इस शंका के समाधान के लिए ही आरूणि नदी का दृष्टान्त देते हैं।

जैसे समुद्र के जल से ही बादलों के द्वारा पुष्ट हुई गङ्गा आदि नदियां अन्त मे समुद्र में ही मिलकर अपना नाम-रूप त्याग देती हैं, वह यह नहीं जानती कि मैं गङ्गा हूं, मैं नर्मदा हूं। सर्वथा समुद्र भाव को प्राप्त हो जाती है, और फिर मेघ के द्वारा वृष्टि रूप से समुद्र से बाहर निकल आती हैं, किन्तु यह नहीं जानती कि हम समुद्र से निकले हैं, उसी प्रकार से जीव भी सत् में से निकल कर सत् में ही लीन होते हैं और पुन: उसी से निकलते हैं, परन्तु यह नहीं जानते कि हम 'सत्' से आये हैं। 'वही सत् तू है' 'तत्त्वमसि'।

यह दृष्टान्त स्पष्ट बोध कराता है कि सुषुप्ति में प्रज्ञान घनीभूत रहता है। उस समय अन्त:करण की वृत्ति के न होने के कारण किसी प्रकार का पार्थक्य बोध नहीं होता। (सुषुप्तावस्था के सुख एवं अज्ञान के अनुभव का प्रयोजक अविद्यावृत्ति को ही माना गया है) अत: उस अवस्था में सत् सम्पत्ति का बोध नहीं होता और जब अनुभव ही नहीं तो स्मृति कैसे रहेगी?

श्वेतकेतु के मन में फिर भी कुछ शंकायें बनी रह गई। उसने देखा कि नदी समुद्र में विलीन होकर अपनी विशिष्टता खो देती है, किन्तु यह प्राणी निद्रा की अवस्था में और मृत्यु एवं प्रलय की अवस्था में 'सत्' में विलीन होने पर अपनी विशिष्टता नहीं खोते। क्यों? आरूणि ने वृक्ष के दृष्टान्त से इस शंका का समाधान किया। यदि किसी वृक्ष की जड़ पर या मध्य भाग में या चोटी पर कुल्हाड़ी से आघात किया जाय तो उस उस भाग से जीवनरस टपकने लगता है, वृक्ष नष्ट नहीं होता। जब तक उस वृक्ष में जीवात्मा व्याप्त रहता है, तब तक वह मूल के द्वारा जल ग्रहण करता हुआ आनन्द से रहता है। किन्तु जब वृक्ष की किसी शाखा से जीव निकल जाता है तब वह शाखा सूख जाती है। जब सारे रस को वृक्ष त्याग देता है तब वह सबकासब सूख जाता है। इसी प्रकार यह शरीर भी जब जीव से रहित होता है तभी मृत्यु को प्राप्त होता है। जीव कभी मृत्यु को प्राप्त नहीं होता। उसी की एकाग्रता के कारण सुषुप्ति, मृत्यु एवं प्रलय में भी व्यक्ति अपनी विशिष्टता नहीं खोता। 'वही तू है' 'तत्त्वमसि'।

जगत् स्थूल है, नाम एवं रूप से युक्त है, प्रत्यक्ष गोचर है। इसके विपरीत सत् अत्यन्त सूक्ष्म, नामरूप विनिर्मुक्त एवं इन्द्रियों का अविषय है। ऐसी स्थिति में 'सत्' जगत् का कारण कैसे हो सकता है? श्वेतकेतु के इस संशय के समाधान हेतु आरूणि न्यग्रोधफल के दृष्टान्त द्वारा उपदेश करते हैं।

आरुणि ने श्वेतकेतु से वटवृक्ष का एक फल मंगा कर उसे तोड़ने को कहा। श्वेतकेतु ने फल तोड़ दिया। आरुणि ने पूछा "इस फल के भीतर क्या है?" श्वेतकेतु ने कहा "छोटे छोटे बीज"। आरुणि ने उससे एक बीज तोड़कर उसके भीतर देखने को कहा। श्वेतकेतु ने बीज तोड़कर देखा और कहा कि इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता। आरुणि ने कहा कि जिस प्रकार वटबीज की अदृश्य अणिमा से महान् वटवृक्ष उत्पन्न होकर खड़ा है उसी प्रकार नाम रूपादिमान् विराट् जगत् अत्यंत सूक्ष्म सत् से ही उत्पन्न हुआ है। 'वही सत् तू है' 'तत्त्वमसि'।

इस दृष्टान्त के माध्यम से ब्रह्म की सूक्ष्मता एवं इन्द्रिय अगोचरता का प्रतिपादन किया गया है । ब्रह्म कभी दृश्य रूप में सामने नहीं आता। यदि वह भी अन्य वस्तुओं के समान दृश्य हो जाय तो वह अपने अस्तित्व के लिए किसी द्रष्टा पर आश्रित हो जायेगा। परिणाम स्वरूप उसकी स्वतंत्रता का अपलाप होगा। वह भी अन्य दृश्यों की तरह मिथ्या हो जायेगा।

वट बीज के उदाहरण से 'सत्' अत्यन्त सूक्ष्म एवं इन्द्रिय अगोचर सिद्ध हुआ। किन्तु क्या इन्द्रिय अगोचर तत्त्व अविद्यमान नहीं? और क्या अविद्यमान तत्त्व जगत् का निमित्तोपादान कारण हो सकता है? इन प्रश्नों से आन्दोलित श्वेतकेतु को आरुणि ने पुन: एक दृष्टान्त से समझाया कि विद्यमान होने पर भी कोई-कोई वस्तु उपलब्ध नहीं होती। आरुणि ने नमक की एक डली श्वेतकेतु को जल भरे लोटे में डालने को कहा। दूसरे दिन प्रात: आरुणि ने श्वेतकेतु से उस नमक की डली को जल से बाहर निकालने को कहा। पर चूँकि नमक पानी में घुल गया था, इसलिए श्वेतकेतु उसे निकाल नहीं सका। पिता के आदेश पर श्वेतकेतु ने लोटे के ऊपरी, मध्य एवं तल भाग से क्रमश: जल का आचमन किया और उसे नमकीन पाया। नमक की डली पहले दिन दृष्टि और स्पर्श का विषय थी किन्तु दूसरे दिन वह जल में विद्यमान होते हुए भी न दृश्य थी न स्पृश्य। इस दृष्टान्त से श्वेतकेतु को बोध हुआ कि जो नमक पानी में घुल गया है वह शाश्वत है। पानी में घुलकर उसका रूप भले ही बदल गया हो, पर मूल तत्त्व वर्तमान है। नमक नेत्रों से नहीं दीख रहा है तो भी वह जल में सदा, सर्वत्र विद्यमान है। उसी प्रकार यह सूक्ष्म तत्त्व आत्मा अवङ्मनसगोचर होते हुए भी अखण्ड, एकरस, सर्वव्याप्त सत्ता है। 'वही तू है' 'तत्त्वमसि'।

जगत् का यह मूलभूत सत् जाग्रत, स्वप्न एवं सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं का साक्षी है। वह न्यग्रोध बीज के समान सूक्ष्म है तो जल में घुले लवण के समान सर्वव्याप्त है। वह न इन्द्रियों का विषय है और न मन का और न तर्क का। वह इदंतया कभी भी नहीं बताया जा सकता। दूसरी ओर, उसे न जानने पर पुरुष अन्य सभी ज्ञानों के रहने पर भी अकृतार्थ ही रह जाता है। फलत: श्वेतकेतु को उसकी उपलब्धि का उपाय जानने की आकांक्षा हुई।

इसी आकांक्षा के समाधान के लिए आरुणि ने अगला उदाहरण दिया है। जैसे कोई चोर आंखों पर पट्टी बांध कर किसी मनुष्य को बहुत दूर गान्धार देश से लाकर किसी जंगल में छोड़ दे और वह पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण चारों दिशाओं की ओर देख-देखकर सहायता के लिए पुकारे और कोई दयालु पुरुष उसकी आंखों की पट्टी खोल दे और उसे गान्धार देश का मार्ग बता दे और वह बुद्धिमान् पुरुष उस दयालु पुरुष के वचनों पर श्रद्धा रखकर उसके बताये हुए मार्ग पर चलते हुए गान्धार देश पहुँच जाता है। इसी प्रकार अज्ञान की पट्टी बांधे हुए काम, कोध, लोभ, मोहादि चोरों के द्वारा संसार रूपी भयंकर अरण्य में छोड़ा हुआ जीव ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु के दयापरवश हो बतलाये हुए मार्ग पर चलकर अविद्या के फंदे से छूटकर अपने मूल स्थान 'सत्' आत्मा को प्राप्त हो जाता है। वह सत् आत्मा तू ही है 'तत्त्वमसि'!

उपरोक्त उदाहरण से आरुणि ने स्पष्ट किया कि ब्रह्म केवल शास्त्र[9] और गुरु[10] के उपदेश से ही गम्य है।

आचार्यवान् को ही ब्रह्म की प्राप्ति होती है। यहां प्रश्न उठता है कि आचार्यवान् विद्वान् को किस क्रम से सत् प्राप्त होता है? इस क्रम को समझने के लिए आरुणि ने मुमुर्षु पुरुष का दृष्टान्त दिया। जब कोई व्यक्ति रोग से पीड़ित

होकर मरणासन्न अवस्था में होता है, तो उसके सम्बन्धी उसकी परिचर्या के लिए घेरे रहते हैं, और उससे पूछते हैं 'मुझे पहचान रहे हो?' जब तक उसकी वाणी मन में लीन नहीं होती तथा मन प्राण में, प्राण तेज में और तेज परदेवता में लीन नहीं होता तब तक वह पहचान लेता है। किन्तु जिस समय उसकी वाणी मन में लीन हो जाती है तथा मन प्राण में, प्राण तेज में तथा तेज परदेवता में लीन हो जाता है तब वह नहीं पहचान पाता। संसारी जीव का जो मरण क्रम है, वही विद्वानों की सत्सम्पत्ति का क्रम है। 'वही सत् तू है' 'तत्त्वमसि'।

इस दृष्टान्त के माध्यम से ऋषि ने सृष्टि का व्युत्क्रम प्रदर्शित किया है। सृष्टि का कम है—सत् ⇨तेज ⇨जल ⇨अन्न। सृष्टि का व्युत्क्रम है—अन्न ⇨जल ⇨तेज ⇨सत्। चूंकि सृष्टि के क्रम में कारण सत् ही है और इसकी परिणति सत् में होती है। इस प्रकार इस दृष्टान्त के द्वारा 'अपवाद' का स्वरूप सरलता से हृदयंगम करा दिया गया है।

साथ ही यह दृष्टान्त आत्मज्ञान और मोक्ष के मध्य किसी अन्य लोक में गमनादि का निषेध भी प्रदर्शित करता है। गमनादि का निमित्त अविद्या, कामना एवं कर्म है। जब अविद्यादि निमित्त नहीं तो गमनादि कैसे सम्भव होंगे? अत: मोक्ष किसी अन्य लोक की प्राप्ति नहीं, वह नित्य और सबका आत्मस्वरूप है।

यदि मृत एवं मुक्त दोनों ही का सत् ब्रह्म में लय होता है तो ज्ञानहीन पुन: क्यों संसार में लौटता है और ज्ञानी क्यों नहीं लौटता? इस प्रश्न के समाधान के लिए आरुणि ने चोर द्वारा तप्त परशुग्रहण का दृष्टान्त दिया।

कोई व्यक्ति चोरी के सन्देह में पकड़ा जाता है और न्यायाधीश के समक्ष दण्ड के लिये प्रस्तुत किया जाता है। किन्तु वह व्यक्ति चोरी को अस्वीकार करता है। तब उस व्यक्ति के कथन की सत्यता की परीक्षा के लिए उसे गरम कुल्हाड़ी पकड़ने के लिए कहा जाता है। यदि उस व्यक्ति ने सचमुच चोरी की हो और झूठ (अनृत) बोलकर अपनी रक्षा करना चाहता है, तो कुल्हाड़ी के जलते हुए फल को पकड़ते ही उसका हाथ जल जाता है। पर यदि उसने चोरी न की हो तो सत्याभिसन्ध होने के कारण, सत्य का व्यवधान हो जाने से तपा हुआ परशु उसे नहीं जलाता। उसे बन्धन से मुक्ति मिल जाती है। जिस प्रकार तप्त परशु और हथेली के संयोग में समानता होने पर भी मिथ्याभिसन्ध करने वाला जल जाता है और सत्याभिसन्ध नहीं जलता, उसी प्रकार देहपात के समय सद्ब्रह्मरूप सत्य में निष्ठा रखनेवाले और उससे भिन्न (अविद्वान्)की सत्सम्पत्ति में समानता होने पर भी जो विद्वान् है वह पुन: जन्म ग्रहण नहीं करता, किन्तु अविद्वान् पुन: संसार में लौट आता है। जिस सत् की अभिसन्धि और अनभिसन्धि के कारण मोक्ष और बन्धन होते हैं। तुम वही हो 'तत्त्वमसि'।

इस दृष्टान्त से आरुणि ने स्पष्ट किया कि ब्रह्म ही एकमात्र वस्तु है। उसी के व्यवधान से युक्त व्यक्ति जलने से बच सकता है। अनृत तो वस्तुत: है ही नहीं, वह तुच्छ है, उसका व्यवधान कैसे किसी की रक्षा करेगा?

इस दृष्टान्त से यह भी द्योतित होता है कि ब्रह्म का स्वरूपत: अविद्या से कोई विरोध नहीं है, दोनों साथसाथ रह सकते हैं। किन्तु वही ब्रह्म जीव से अभिसन्धित होकर मोक्षकारक बनता है, अर्थात् ज्ञानस्वरूप ब्रह्म सभी का, अनृत का भी प्रकाशक है, किन्तु वृत्तिज्ञान अविद्या का नाशक।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि तत्त्वमसि का नवधा प्रतिपादन पुनरुक्ति नहीं वरन् 'सत्' के विभिन्न आयामों का प्रकाशक है। यह आख्यायिका श्रवण के अनन्तर मनन की आवश्यकता को भी प्रकट कर देती है। मनन दृष्ट उदाहरणों के द्वारा अदृष्ट को बुद्धि में स्थिर करने की प्रकिया है। आरुणि द्वारा दिये गये विभिन्न दृष्टान्त अनेक असम्भावनाओं और विपरीत भावनाओं का निराकरण कर श्वेतकेतु की बुद्धि को 'सत्' में प्रतिष्ठित कर देते हैं। आख्यायिका के अन्त में श्वेतकेतु का उल्लास के साथ 'विजज्ञौ इति, विजज्ञौ इति' कथन इसका प्रमाण है।

सन्दर्भ-सूची

1- उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्। अर्थवादोपपत्ती च लिङ्ग तात्पर्यनिर्णये ।। वेदान्तसार 129

2- ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या, मैत्रायण्युपनिषद्, 2.3

3- जानश्रुतिर्ह पौत्रायण:, छां0, पृ0 352, सत्यकामोऽहं जाबालो, छां0 पृ0 380, उपकोसलो ह वै कामलायन:, छां0 पृ0 400 'ह' ऐतिह्यार्थ:, उपरोक्त मंत्रों पर शांकर भाष्य।

4- साक्षात्कृत-धर्माण ऋषयो बभूवु:—यास्क का निरुक्त,1.7

5- इतिहासस्तु सुखावबोधनार्थ: छा0, पृ0 106, आख्यायिका तु सुखावबोधार्था, छां0 पृ0 122 ।

6- कल्पिताख्यायिका, छां0 पृ0 458, पूर्ववदेव कल्पना, छां0 पृ0 460।

7- Sri Aurobindo, Hymns to the Mystic Fire, Foreword, p. xiv.

8- उपाधेरूपशान्तत्वात्-सत्येव सम्पन्नो न विजानाति, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, 3.2.7

9- तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि, बृ0 3.9.26

10- आचार्यवान्-पुरुषो वेद, छां0 6.14.2